Indian Streams Research Journal
International Recognized Multidisciplinary Research Journal
ISSN : 2230-7850 Impact Factor : 4.1625(UIF) Volume -6 | Issue - 2 | March - 2016

" स्त्री - विमर्श : समय की माँग "

रूकसाना जमादार
यु. ई. एस. महिला महाविद्यालय, हिंदी विभाग प्रमुख, सोलापूर (महाराष्ट्र)

सारांश :-

भारतीय संस्कृति में 'स्त्री' का उच्चतम स्थान है । उसे 'देवी', 'दुर्गा' का अवतार माना जाता है । 'स्त्री' मूर्ति को पूजनेवाली भारतीय संस्कृति में घर की स्त्रियों से ही कितना निर्दयी व्यवहार किया जाता है, यह हम देखते ही हैं । घर में लडकी का पैदा होना ही सारे परिवार को दु:ख में डुबो देता है और लडकी को जन्म देनेवाली 'स्त्री' के सुख-दु:ख की तनिक भी चिंता न करते हुए उसे घृणा से देखा जाता है । अत: इन उपेक्षाओं के बोझ से दबकर उसे महसूस होने लगता है कि जो जीवन वह जी रही है, उस पर स्वयं का भी अधिकार नहीं, ऐसी कल्पना उसके भीतर निरंतर बनती जा रही है । इसे ही उसके मन से निकालना है ।

ऐसी स्थिति निर्माण होने के लिए सबसे बडा कारण है पुरूष को मानसिकता जो अपने को सर्वस्व मान 'स्त्री' के वर्चस्व को कुचलने के लिए कटिबद्ध है, परंतु वह नहीं जानता कि भारतीय 'स्त्री' वर्चास्विता की नहीं, समानता की आकांक्षी है । 'स्त्री - विमर्श' पुरूषों के समकक्ष स्त्रियों की राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक समानता का वह आंदोलन है जिसे पहले 'नारी - वाद' कहा जाता था, यह पितृ - सत्तात्मक और लिंग - भेद पर आधारित मूल्यों और मान्यताओं के प्रति विद्रोह है ।

अर्थात् यहाँ लिंगभेदानुसार पुरूषत्व को नहीं लिया गया बल्कि सम्मान की दृष्टि से यह शब्द लिया गया है । जैसे प्रत्येक परिवार में छोटा बालक सम्मान का पात्र होता है, परंतु 'स्त्री' नहीं । तो यहाँ 'स्त्री' की कोमलता को न देखते हुए वह सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक स्तर-पर सम्मानात्मक स्थान की अभिलाषी है ।

पुरूषप्रधान संस्कृति की यह सर्वमान्य विकृत प्रकृति रही है । इसका विरोध भी बहुत पहले से होता रहा है । पाश्चात्य देशों में और भारत वर्ष में भी । पाश्चात्य देशों में यह विरोध नारी मुक्ति, नारीवाद की घोषणाओं में होता रहा है । 'स्त्री वाद' की शुरूवात मुख्यत: ग्रेट ब्रिटन और संयुक्त राज्य अमरिका में हुई । इसकी जडे अठारवीं सदी के मानवतावाद और औद्योगिक क्रांति में थी । कानून और धर्मशास्त्र दोनों ने 'स्त्री' को 'पराधीन' बना रखा था । सम्पत्ति रखने तथा व्यवसाय

करने की सुविधा तो दूर, उनका अपने बच्चों और स्वयंपर भी अधिकार नहीं था । 'स्त्री-वादी' आंदोलन का प्रारंभ 1848 में हुआ, जब एलिजाबेथ कँडी, स्टँडन, लुकेसिया कफिन भोर, कुछ अन्य ने न्यूयॉर्क में एक महिला सम्मेलन आयोजित कर स्त्री स्वतंत्रता पर एक घोषणा पत्र जारी किया जिसमें पूर्ण कानूनी समानता, पूर्ण शैक्षिक और व्यवसायिक अवसर, समान मुआवजा, मजदूरी कमाने और वोट देने के अधिकार की माँग की गयी थी । यह आंदोलन बडी तेजी से फैला और शीघ्र ही पूरे यूरोप में व्याप्त हो गया । संयुक्त राज्य अमरिका में नारी मताधिकार की माँग सन् 1920 में स्वीकृत हो गयी । संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 1946 में नारी की दशा पर एक आयोग गठित किया, जिसका दायित्व विश्वभर की महिलाओं के लिए समान राजनीतिक, समान आर्थिक आधार और समान शैक्षिक अवसर का अधिकार दिलाना था । सन 1960 के आसपास 'स्त्री-वादी' आंदोलन का प्रचार-प्रसार होने लगा ।

भारत में भी महात्मा ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, महर्षि धोंडो, केशव कर्वे आदि के द्‌वारा 'स्त्री-उत्थान' का कार्य आरंभ हुआ । एक ओर नारी-मुक्ति या स्त्री-मुक्ति के लिए 'स्त्रीत्व' से मुक्ति की घोषणा की गयी और पुरूष-मुक्त जीवन की कल्पना भी की गयी । दूसरी ओर संयत विचारधारा के तहत् स्त्री-सशक्तिकरण, स्त्री-सबलीकरण के लिए विचार-विमर्श सक्रिय होते गये और आज पुरूषसत्ताक समाज में 'स्त्री' के अस्तित्व को ठेस न पहुँचाते हुए, उसकी उपेक्षा न करते हुए उसकी गरिमा, उसकी महत्ता, उसकी अस्मिता को बनाए रखने का प्रयास - स्त्री - विमर्श है । स्त्री - विमर्श असल में स्त्री अस्मिता और चेतना का दूसरा रूप है ।

प्रस्तावना :-

मनुष्य अपनी संवेदनाओं को व्यक्त करने के लिए साहित्य को ही माध्यम बनाता है । साहित्य मानव जीवन के जिस सत्य को अभिव्यक्त करता है, वह नारी की संवेदनाओं के बिना अपूर्ण है । नारी सृष्टि की सुंदर रचना है । मानव जीवन में वह विधाता की सर्वोत्तम परिकल्पना है । इसलिए प्राचीन काल से ही नारी अपने बहुविध रूपों में साहित्य में मौजूद रही हैं ।

प्रकृति ने 'पुरूष' और 'स्त्री' को एक-दूसरे का पूरक बनाया है । उनके पारस्परिक सहयोग से मानव जाति निरंतर चलती रहती हैं । दोनों का एक-दूसरे के लिए समान महत्त्व है । 'स्त्री' हर युग में पुरूष की सहगामिनी रही है । आज भी वह अपने दायित्वों को पूरा कर रही है । वास्तव में स्त्री ही पुरूष की शक्ति है और प्रत्येक क्षण पुरुष को सम्बल प्रदान करती है । इतना महत्त्वपूर्ण कार्य करते हुए भी 'स्त्री' हमेशा से, सदैव से असमानता के कारण उपेक्षित रही है ।

जैसे - "सात भाइयों के बीच चंपा" इस कविता में कवयित्री कात्यायनी ने भी भारतीय समाज की पुरूषसत्ताक व्यवस्था में नारी की ओर किस नजरिये से देखा जाता है, इसे उजागर किया हैं । पुरूषसत्ता व्यवस्था में 'स्त्री' के जन्म के साथ ही उस पर कई बंधन लगाये जाते हैं । उसका जन्म ही मानो त्याग और समर्पण के लिए हुआ है, ऐसा मानकर उसके साथ व्यवहार किया जाता है । उदा. -

" बाँस की टहनी - सी लचक वाली,

बाप की छाती पर साँप - सी लोटती,

सपनों में काली छाया - सी डोलती,

सात भाइयों के बीच,

चम्पा सयानी हुई ।

ओखल में धान के साथ,

कूट दी गई,

भूसी के साथ कूडे पर

फेंक दी गई ।"

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि 'स्त्री' को सदैव ही एक बोझ समझा गया हैं और हर समय वह दूसरों पर ही निर्भर रहती है, जैसे - जब तक उसका ब्याह नहीं होता वह किसी की बेटी, अपने पिता पर निर्भर रहती हैं । जैसे - जब तक उसका ब्याह नहीं होता, वह किसी की बेटी, अपने पिता पर निर्भर रहती है । शादी के बाद अपने पति पर, बुढापे में अपने बेटे पर । 'स्त्री' की यह जो अवहेलना उसके अपने परिवार में होती है, इसी भाव को हमें 'स्त्री - विमर्श' के द्‌वारा दूर करना है । उसका अस्तित्व, उसका वजूद, उसकी अस्मिता, उसकी चेतना, उसका स्वाभिमान, आत्मनिर्णय उसमें निर्माण करना है, उसे उसकी पहचान कराना हैं ।

'स्त्री - मुक्ति' या 'स्त्री - विमर्श' का सही अर्थ यह नहीं कि पति घर-पर बैठकर बच्चों को सँभाले और पत्नी बाहर काम पर जाए । इस शब्द का इस प्रकार अनर्थ करने के कारण ही 'स्त्री - मुक्ति' या 'स्त्री - विमर्श' की कल्पना समाज में सही अर्थों में स्वीकार नहीं की जा रही है । तो मैं यहाँ यह स्पष्ट करना चाहुँगी कि - 'स्त्री - मुक्ति' का सही अर्थ यह - 'स्त्री' को पुरूष के समान हक्क मिले । इसका अर्थ यह हैं कि - 'स्त्री' पुरूषार्थ नहीं चाहती पर पुरूषार्थ के रूप में, कर्ता के रूप में, निर्णयक्षमता के योग्य वह कार्य करना चाहती है । अर्थात् वह मन और शरीर से कोमल होने के बावजूद भी कठिन परिस्थिति आने पर उसका डटकर सामना भी करना चाहती है ।

'स्त्री' कोई भोग की वस्तु नहीं है । उसे विकास की दिशा प्रदान करते हुए 'स्त्री' स्वतंत्रता की जगह 'स्त्री' समानता पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है । यदि पुरूष अपने ही बच्चे संभालने में शर्मा रहा हो तो समानता कहाँ रही ? साथ ही साथ कभी कभार यदि वह भोजन बना सके या उसमें भी उसका 'पुरूष' 'अहम्' भाव जागृत हो गया हो तब भी समानता नहीं आ सकती ।

अर्थात् परिवार में जो चूल्हा - चक्की की मर्यादा, परंपरा की रीति डाल दी गयी हैं, क्या वह सिर्फ 'स्त्री' का ही दायित्व है ? तो इसका उत्तर है - नहीं ।

आज बदलते परिवेश के समान प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण भी बदलने की आवश्यकता है । जिसके लिए मैं यहाँ दो उदाहरण देना चाहुँगी कि - 'के. बी. पी.' में सहभागी एक 'स्त्री' - शिक्षिका का कार्य करनेवाली थी, उसका पति नौकरी न होने की वजह से वह घर - परिवार की जो जिम्मेदारियाँ हैं (अर्थात् जो 'स्त्री' को नौकरी न होने पर वह घर - परिवार के लिए करती है) वह निभा रहा था । यह कार्य करते समय उसे थोडी-सी भी झिझक या संकोच का आभास नहीं होता था । तो यह समानता 'स्त्री' चाहती हैं । दूसरा उदा. 'दीया और बाती' की 'संध्या और सूरज राठी' का पात्र । इन माध्यमों में भी 'स्त्री - पुरूष' समानता का प्रसार - प्रचार हो रहा है । सूरज एक कम पढा-लिखा व्यक्ति होने के बावजूद भी वह संध्या की पढाई पूरी करता हैं, और 'आय.पी.एस.' अफसर के पद पर उसे कार्य करते देख गर्व महसूस करता है - ये परिवर्तन 'स्त्री' चाहती है । निष्कर्षत: मैं यह कहना चाहुँगी कि 'स्त्री' आज समाज में आदर, सम्मान की अभिलाषी है ।

आज हम सब को उसकी परंपरागत छबी (माँ, बेटी, बहन, पत्नी) को न देखते हुए 'मानव' या 'व्यक्ति' के रूप में उसकी ओर देखने की, उसके प्रति सोचने की आवश्यकता है । इस संदर्भ में डॉ. विद्या व्यवहारे कहती है - 'स्त्री - विमर्श' में 'स्त्री' की ओर मानव के रूप में देखकर उसके मानवीय व्यवहार पर सोचा जाता है । साथ ही उसकी स्वतंत्रता को महत्त्व दिया जाता है । स्वयं के जीवन का निर्णय लेने का अधिकार होना, शिक्षा प्राप्त करने का अवसर, समाज में पुरूष के समान अधिकार, उसका (पुरूष का) जो विकास हुआ है, वैसे ही विकास अवसर इस समाज व्यवस्था से नारी को प्राप्त हो, यह इच्छा 'स्त्री - वादी' विचारधारा अपनाने वालों की है ।[1]

अर्थात् आज 'स्त्री' के पास निर्णयक्षमता होते हुए भी वह निर्णय नहीं ले सकती तो वह स्त्रियों के लिए अवहेलना की ही बात हुई । तो यही अवहेलना यही लांछनीयता, तुच्छनीय व्यवहार 'स्त्री' को नहीं चाहिए, उसे चाहिए एक उन्मुक्त आकाश जहाँ पर वह अपना व्यवहार स्वतंत्रता से कर सके, उस पर किसी प्रकार की कोई पाबंदी न हो । इसी संदर्भ में 'स्त्री - विमर्श' के प्रति अपने विचारों को 'निर्मला पुत्तल' ने अपनी कविता - 'अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री' में इन पंक्तियों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है । -

" एक उन्मुक्त आकाश

जो शब्द से परे हो,

एक हाथ,

एक हाथ नहीं,

उसके होने का आभास हो ।"[2]

यहाँ वह अपनी स्वतंत्र दुनिया स्थापित करना चाहती है, जिस पर सिर्फ उसकी सत्ता हो । जब ऐसा होगा तो उस स्वतंत्रता को, उस आजादी को, उस उन्मुक्तता को प्रकट करने के लिए वह नि:शब्द होगी, उसकी यह भावनाही अवर्णनीय है । उस संवेदना, उस आभास को वह महसूस करना चाहती है । आखिर वह भी एक मानव हैं और इसलिए जीवन का खुलकर आनंद लेना चाहती है । किसी प्रकार का प्रतिबंध वह नहीं चाहती ।

निष्कर्ष :-

अंतत: इतना कहा जा सकता हैं कि हम सब को उसके सामर्थ्य की खोज करके उसे उससे (स्वयं) परिचित कराना ही 'स्त्री - विमर्श' है ।

इसलिए सर्व प्रथम 'स्त्री' की मानसिकता में परिवर्तन आवश्यक है । वह जो अपने भीतर हीन भावना को लेकर जी रही है उसे बाहर निकालना अत्यंत आवश्यक है । इस संदर्भ में सुदेश बत्रा के विचार - "स्त्रियों को चाहिए कि वे पुरूषों को झुकाने से पहले अपना हीन भाव दूर करें । समाज में ऐसी स्थितियाँ लाने की जिम्मेदारी स्त्रियों की ही है कि उन्हें पुरूषों का साथ और सहारा मिलें, उनके पैर की ठोकर नहीं । यदि किसी कारण उन्हें सहारा मिलें या मिलकर छीन जायें तो उन्हें अपने हाथ - पैरों, अपने दिल-दिमाग का सहारा लेना है । तभी उन्हें समाज की शंकित और हीन निगाहों से मुक्ति मिलेगी और यही भारतीय नारी का सही मुक्ति आंदोलन होगा ।"[3]

अर्थात् नारी की परंपरागत मानसिकता में परिवर्तन लाकर उसे 'स्व' या 'अस्तित्व' का साक्षात्कार 'स्त्री - विमर्श' द्वारा हो रहा है । और यह परिवर्तन किसी आंदोलन से, संघर्ष से नहीं तो उसका प्रारंभ हमें अपने परिवार से करना चाहिए । 'स्त्री' को 'कनिष्ठ' या 'दुय्यम' स्थान पर न रखते हुए उससे समानता का व्यवहार अपेक्षित है । तब कहीं जाकर समाज में परिवर्तन, विचारों में परिवर्तन, उसकी ओर देखने का दृष्टिकोण बदल जायेगा । इस तरह एक परिवार में होनेवाला परिवर्तन यह 'स्त्री - विमर्श' की पहली पहल है ।

नारी - विमर्श' का उद्देश्य :-

1) 'स्त्री' की स्थिति में सुधार लाने के लिए समस्त समाज में परिवर्तन ।
2) 'स्त्री' ने स्वयं को दमित के रूप में पहचानना और अंतत: दमित होने की नीयति से इन्कार करना ।
3) 'स्त्री' के सामर्थ्य की खोज करके उसे उससे परिचित कराना ।
4) 'स्त्री' की मानसिकता में परिवर्तन लाना ।
5) परंपरागत भूमिका के विषय में पुन: सोचकर उसके स्वतंत्र अस्तित्व की पहचान स्थापित कराना ।
6) 'स्त्री' को एक 'व्यक्ति' या 'मानव' के रूप में पहचान कराना ।
7) 'स्त्री' की परावलंबी भावना को मनसे निकालकर उसमें आत्मविश्वास निर्माण करना ।
8) प्रचलित संस्कारों से मुक्ति दिलाना ।

:: संदर्भ ग्रंथ ::

1) हिंदी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ : डॉ. सरजूप्रसाद मिश्र, अमन प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2011, 'नारी - विमर्श', पृष्ठ क्र. 25, 32 ।
2) नारी चिन्तन : नयी चुनौतियाँ : डॉ. राजकुमारी गडकर, प्रकाशक : अन्नपूर्णा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, प्रकाशन वर्ष 2004, पृष्ठ क्र. 40, 41 ।
3) स्त्रीवाद और महिला उपन्यासकार : डॉ. वैशाली देशपांडे, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2007, पृष्ठ क्र. 13, 15, 17 ।
4) साहित्यालोक : संपादक डॉ. राणू कदम तथा डॉ. गिरीश काशिद, दिव्य डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, "अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री" - निर्मला पुत्तल - कविता, पृष्ठ 138 ।
5) प्रभा खेतान के साहित्य में नारी - विमर्श, डॉ. कामिनी तिवारी, विद्या प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2011, पृष्ठ क्र. 13 ।
6) सुरेंद्र वर्मा के नाटकों में 'स्त्री' - विमर्श, डॉ. बी. हेमलता, अन्नपूर्णा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012, पृष्ठ क्र. 27, 38, 49 ।
7) साहित्योलोक : संपादक डॉ. राणू कदम तथा डॉ. गिरीश काशिद, दिव्य डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, "सात भाइयों के बीच चम्पा" - कात्यायनी, पृष्ठ क्र. 120 ।